आनंद निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल

एक स्कूल जो होना ही चाहिए

अनिल सिंह

साल 2012 में आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल से मैं एक अभिभावक के तौर पर जुड़ा और फिर 2022 तक अलग-अलग ज़िम्मेदारियों के साथ इसका अभिन्न हिस्सा बना रहा। इन 10 सालों में बच्चों और बड़ों के साथ मिलकर खूब सीखना-सिखाना हुआ। मज़ेदारियाँ रहीं, साथियापा रहा और सीखने-सिखाने को लेकर समझदारी भी साथ-साथ बनती रही। यह स्कूल एक प्रयोग ही रहा पर इसकी सीमित पहुँच ने भी एक उम्मीद जगाई कि यह सब किया जाना सम्भव है। यह पूरा सफर हम सबने मिलकर तय किया। अलग-अलग समय पर अलग-अलग लोग जुड़ते और साथ चलते रहे। अब इस पूरे सफर का किस्सा सिलसिलेवार लिखने का ज़िम्मा मैंने लिया है। उसी सिलसिले में यह पहली कड़ी है।

अगर मैं बताऊँ कि यह सब हम चन्द लोग मिलकर कर पाए तो शायद कोई यकीन न करे। यह इसलिए क्योंकि ऐसा चाहने और मानने वाले इस सफर में कम ही मिले। पर यह सब हो भी पाया तो उन्हीं चन्द लोगों की बदौलत जिनका इस पर पक्का यकीन था। जो चाहते थे कि ऐसा हो सके और जो मानते थे कि ऐसा किया जा सकता है।

किस्सा कुछ यूँ है - मार्च 2012 की एक दोपहर यह पैगाम मिला कि 'आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल' एक अभिनव प्रयोग के रूप में शुरू हो रहा है। शुरुआती और उत्साही साथी प्रमोद, स्टेफनी और विजय घर आए और उन्होंने स्कूल की योजना के बारे में बताया।

दबाव से आज़ादी की ओर कदम

मैं इसमें पहली दफा बतौर अभिभावक शामिल हुआ, अपनी 7 साल की बेटी बीहू को लेकर। बीहू फाउण्डेशन स्कूल पार करने के बाद एक बड़े फॉर्मल स्कूल का अनुभव लेकर, उसे छोड़ चुकी थी। स्कूल को

समस्या थी कि वह अपनी कॉपी में बोर्ड से उतारकर जल्दी-जल्दी लिखती नहीं, जबकि बाकी बच्चे लिख चुके होते; ऐसे में बीहू के कारण पूरी कक्षा पिछड़ रही थी और टीचर झुँझला रही थीं। बच्चों के साथ जैसे पूरा स्कूल ही पिछड़ रहा था।

हमने स्कूल जाकर बात की और बीहू पर दबाव न बनाने का आग्रह किया तो अगले ही दिन से टीचर ने बीहू को डेस्क पर हेड डाउन करके बैठे रहने के लिए कहना शुरू कर दिया। या फिर कभी-कभी उसे सिक रूम में भेजा जाने लगा।

बीहू कहती, "जब मैं बीमार नहीं हूँ तो फिर मुझे सिक रूम में क्यों भेजती हैं टीचर?" उसे एक पूरे पेज पर अल्फाबेट को कई बार लिखने से सख्त नफरत थी। उसका कहना था कि जब उसे एबीसीडी लिखना आ गया है तो फिर बार-बार यही लिखने को क्यों कहती हैं टीचर।

कुछ दिन वह जाने में आनाकानी करती और छुट्टी मार लेती, कभी स्कूल से फोन आने पर हम उसे छुट्टी से पहले ले आते। बीहू के सवालों को लेकर टीचर से बात करते और कहते कि हमें कोई जल्दी नहीं है, उसे आराम-से सीखने के मौके दीजिए। पर टीचर बाकी बच्चों के बिगड़ने और अभिभावकों की शिकायतों का हवाला देकर अपना दुखड़ा रोने लगतीं। बहरहाल, दो महीने की इस पूरी कवायद के बाद हमने स्कूल छोड़ दिया, और घर पर ही कुछ जुबानी किस्से-कहानियों, चित्र वाली कहानी-कविता की किताबों, रंग-रोगन, कागज़-पत्तर, मिट्टी और पत्थर के साथ समय बिताने का फैसला किया।

आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल में टायर के झूलों पर आनन्द लेते बच्चे।

सालभर यह सब किया ही था और हमें मज़ा भी खूब आ रहा था कि आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल शुरू हुआ। यह स्कूल ग्यारह बच्चों और छः बड़ों के साथ शुरू हुआ। अशोक के बड़े-बड़े पेड़ों सहित टायर के झूलों और छोटी-छोटी कुर्सियों एवं टेबल वाला स्कूल पहली नज़र में किसी सपनीले संसार-सा लगता था।

थोड़ी-सी खाली जगह मिल जाने पर कितनी कल्पनाएँ साकार होने लगती हैं। एक झोपड़ी, आम, अमरूद आँवला, चीकू, गुड़हल, मीठी नीम और केले के कुछ पेड़, कुछ क्यारियों में बैंगन, मिर्च और टमाटर के पौधे, और बीचों-बीच एक छोटा-सा पक्का पॉण्ड जिसमें भरे हुए पानी में कुछ मछलियाँ थीं और बाद में कमल के पौधे भी लगाए गए। और हाँ, रेत के लिए एक टांका भी था – टांका इसलिए कि रेत बिखर न जाए। उसमें प्लास्टिक की एक सीढ़ी और स्लाइड भी लगी हुई थी। बाद के दिनों में लोहे के दो समानान्तर पाइपों पर चलने वाली दो डिब्बों वाली रेलगाड़ी भी इसमें जुड़ गई थी, जिसमें बच्चे धक्का मारने के बाद बैठ जाते थे और यह थोड़ी ढलान पर अपने आप दौड़ जाती थी। बच्चों के मज़े, खेल और सीखने के लिए लगभग सब कुछ था।

अभिभावक से साथी बनने का सफर

एक अभिभावक के रूप में बाहरी तौर पर सम्मिलित हुआ मैं, कैसे इसका अन्दरूनी हिस्सा बन गया, यह भी कमाल का किस्सा है। मॉर्निंग गैदरिंग में मैं अपनी रुचि से शामिल होता था क्योंकि मुझे गीत-संगीत में रुचि रही। बीहू को स्कूल लाकर मैं मॉर्निंग गैदरिंग में बैठता और सबके साथ गीत गाता। वर्षाजी और विजय को देखता, वे बच्चों के साथ मिलकर ज़बरदस्त माहौल बनाते। फिर एक दिन मैंने स्वेच्छा से ढपली ले ली। संगत देने लगा। और कुछ दिनों बाद मुझे ढोलक भी पकड़ा दी गई। अब तो मेरे मज़े ही मज़े थे। एक घण्टा सुरीली मस्ती में कटता। फिर उसके बाद चाय का वक्त हो जाता और मैं इस लालच में कुछ देर और रुक जाता। चाय पीकर मैं वापस आ जाता।

फिर एक रोज़ बच्चों के एक समूह को कहानी सुनाने के लिए थोड़ी और देर रुक गया। मुझे बहुत मज़ा आया और बच्चों को भी। स्कूल के साथियों ने और खास तौर पर प्रमोद ने कहा कि "क्या कुछ समय स्कूल को दे सकते हो?" मैंने कहा, "सोचकर बताता हूँ।" पर मन पहले से ही तैयार था। भाषा के साथ खेलने में मज़ा आता था, सो मैंने भाषा के साथ काम करने का प्रस्ताव मान लिया। शुरू-शुरू में मैंने दो घण्टे देने का वादा किया। अपनी पहली क्लास बड़े बच्चों के समूह के साथ की और वह मुहावरे पर केन्द्रित थी।

आनन्द निकेतन स्कूल में मॉर्निंग गेदरिंग।

मुहावरे की क्लास

ज़्यादातर स्कूलों में बोलने या बातचीत को आम तौर पर भाषा के एक संसाधन के रूप में नहीं देखा जाता। किसी कक्षा गतिविधि के सन्दर्भ में सबसे मुखातिब होकर बोलने के मौके बच्चों के पास बहुत ही कम और सीमित अर्थों में ही उपलब्ध होते हैं। जैसे कि, किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए निर्धारित और नपे-तुले शब्दों में बोलना, स्कूल नहीं आ पाने, कॉपी-किताब नहीं लाने या गृहकार्य पूरा नहीं कर पाने के कारण बताते समय भय और शर्मिन्दगी का भाव लिए हुए कुछ कहना, या फिर पाठ्यपुस्तक का वाचन करते हुए अक्षरश: बोलना।

मौखिक भाषा यहीं से कुण्ठा और किताबी ढाँचे का शिकार होती चली जाती है। इन पाबन्दियों के चलते, उसका संसार विस्तृत नहीं हो पाता। पढ़ने और लिखने का कौशल सीखने में स्कूल के भीतर इस मौखिक भाषा से कोई मदद नहीं मिल पाती। लिखने-पढ़ने का काम एक अलग ही टापू बन जाता है जिसका बोलचाल की नदी से कोई जुड़ाव ही नहीं।

उस दिन यह तो पता था कि आज मुहावरों पर चर्चा होनी है पर बच्चे यह नहीं सोच पा रहे थे कि कक्षा में आखिर होगा क्या। लिखाया जाएगा या पढ़ाया जाएगा, या फिर कुछ सुनाया जाएगा। कक्षा इस बात से

शुरू हुई कि आज हम मुहावरों के बारे में बातचीत करेंगे और कुछ मुहावरे सीखेंगे। उन्हें बताया कि जब किसी घटना का पूरा बखान न करके थोड़े-से शब्दों में एक कैप्सूल की तरह बोला जाए तो यह कितना मज़ेदार हो सकता है। और कैप्सूल पहले से ही तैयार हों। सिर्फ छाँटना है कि कौन-सा कैप्सूल यहाँ पर फिट बैठेगा। ये कैप्सूल ही मुहावरा है। इतना समझना था कि बच्चों के बीच हँसी के फव्वारे और खुसर-फुसर फैल गई।

मैंने उदाहरण के रूप में पहला मुहावरा लिया 'ऊँट के मुँह में जीरा'। मैंने पूछा, "ऊँट सबने देखा है?" सब अपने-अपने अनुभव बताने लगे। चित्र से लेकर फिल्म और ऊँट की सवारी तक के अनुभव सामने आए। इसके बाद पूछा, "और जीरा?" सबने उस पर भी कोई देर न की।

अब मैंने ब्लैकबोर्ड पर एक बड़ा-सा पूरा ऊँट बनाया और कहा, "इतना बड़ा तो होगा?" इस पर बच्चों ने कहा, "इससे भी बड़ा होता है।" मैंने कहा, "ठीक है, अपने पास इतना ही बड़ा बोर्ड है इसलिए इतना ही बड़ा ऊँट चलेगा।"

इसके बाद अब जीरे की बारी थी। मैंने बोर्ड पर चॉक से एक बिन्दु बनाया और पूछा, "जीरा इतना बड़ा होगा?" उन्होंने कहा, "और छोटा।" मैंने कहा, "ठीक है, पर इससे छोटा दिखेगा नहीं। फिलहाल, अपन इसे ही जीरा मानकर चलते हैं।" मैंने कहा, "अब फिर से एक बार 'ऊँट के मुँह में जीरा' मुहावरे पर नज़र डालो।" मैंने जानबूझकर ऊँट का मुँह बड़ा-ही बनाया था। मैंने कहा, "इसमें दो चीज़ें हैं, ऊँट का मुँह और जीरा।" उनसे पूछा कि ऊँट क्या-क्या खाता है। सबने ढेर सारी चीज़ें गिनाईं। अब मैंने एक किस्सा सुनाया, "एक बार एक ऊँट को बहुत ज़ोरों की भूख लगी थी। रेगिस्तान में दूर-दूर तक कहीं भी कोई पेड़, पत्ती या घास न दिखती थी। ऊँट भूख से बेहाल था। उसके मालिक की थैली में भी कुछ न था। फिर भी उसने एक बार अपनी थैली खँगाली। उसमें जीरे का एक दाना कोने में चिपका हुआ मिल गया। उसने वह जीरा ऊँट को खाने के लिए दिया। ऊँट ने मुँह खोला और मालिक ने जीरा उसके मुँह के अन्दर रख दिया। ऊँट अपनी जीभ से जीरे को टटोलता ही रह गया।"

बच्चों ने कहा, "फिर तो वह भूखा ही रह गया होगा।" "जीरे का दाना तो उसके दाँतों के बीच ही फँसकर रह गया होगा।" किसी ने कहा, "गाल में चिपक गया होगा।" कोई बोला, "जीभ के नीचे ही छुप गया होगा।"

मुझे लगा, बात जम गई है। ऊँट और जीरे का अनुपात समझ पाने के लिए यह पर्याप्त था। ऊँट की ज़रूरत और उपलब्ध सामग्री के बीच सम्बन्ध भी उन्हें समझ आ गया था।

मैंने परिभाषा गढ़ी कि जब ज़्यादा

की ज़रूरत हो और उसकी तुलना में बहुत थोड़ा या नाममात्र को मिले तो ऐसी स्थिति में कहते हैं, यह तो 'ऊँट के मुँह में जीरे' वाली बात हुई।

बच्चों को तो मज़ा ही आ गया। उन्हें परिस्थिति और उसका कैप्सूली-करण समझ आ गया था। मैंने कहा, "अब सब एक किस्सा सुनाएँ जिसमें ऊँट के मुँह में जीरा जैसी बात हो।" दो बच्चों ने तो हूबहू यही किस्सा दोहरा दिया। तीन बच्चों ने ऊँट की जगह हाथी और घोड़ा रखे। दो बच्चों ने उसे खुद के साथ जोड़ा और भूख में एक टॉफी या बेर खाने की स्थिति बताई।

मुहावरे, किस्से और अभिनय

अगले चरण में तय हुआ कि अब सब अपनी-अपनी परिस्थिति को अभिनय द्वारा प्रस्तुत करें। यह तो और भी मज़ेदार रहा। मैंने कहा, "आज के लिए इतना काफी है। कल हम दो नए मुहावरे लेंगे और उन पर किस्से बनाएँगे और फिर उन्हें अभिनय द्वारा प्रस्तुत करेंगे।"

अब तो मुहावरे की कक्षा हिट हो गई थी। बच्चों ने कहा, "दो पीरियड इसी पर बात करेंगे।" ऐसा ही हुआ। इस बार हमने दो नए मुहावरे, 'छत्तीस का आँकड़ा' और 'आ बैल मुझे मार' लिए।

सबसे पहले मैंने बोर्ड पर 36 लिखा। मैंने पूछा, "यह क्या है?" सब बोले, "थर्टी सिक्स - छत्तीस।" मैंने कहा, "अगर ये दो इन्सान हों तो? तुम्हें क्या दिखता है?" किसी ने कहा, "ये अलग-अलग करवट लेकर सो रहे हैं।" मैंने कहा, "अगर ये खड़े हों तो?" एक ने कहा, "ये अलग-अलग चीज़ों को देख रहे हैं।" दूसरे ने कहा, "अलग-अलग तरफ मुँह किए हुए हैं।" मैंने कहा, "अगर ये एक-दूसरे से नाराज़ हों तो?" तब एक ने कहा, "ये एक-दूसरे का चेहरा नहीं देखना चाहते। आपस में बात नहीं करना चाहते। पीठ लड़ाकर खड़े हैं।" वगैरह, वगैरह।

मैंने किस्सा सुनाया – एक बार कक्षा में एक दोस्त से मेरा झगड़ा हो गया। उसकी कुछ आदतें मुझे बिलकुल पसन्द नहीं थीं। वह बहुत शरारत करता था, मैं चुपचाप बैठता था फिर भी मेरे नाम से शिकायत पहुँच जाती थी। वह आधी छुट्टी में बाहर सड़क पर घूमता था, मैं अपनी कॉपी लिखता रहता था। वह अन्य साथियों से मेरी बुराई करता और मेरी खिल्ली भी उड़ाता। बाद में हम लोग अलग-अलग बैठने लगे। जब हमें साथ बुलाया जाता तो हम एक-दूसरे की तरफ पीठ करके खड़े हो जाते। टीचर ने कहा, "पहले तो इनमें याराना था, अब '36 का आँकड़ा' है।"

एक बच्ची उठी और उसने दो कुर्सियों को उठाकर एक-दूसरे की विपरीत दिशा में इस प्रकार सटाकर रखा, मानो वे एक-दूसरे से बात नहीं

बच्चों के साथ किस्सों और मुहावरों पर बातचीत।

करना चाहती हों। उनकी पीठ एक-दूसरे की तरफ और मुँह अलग-अलग दिशाओं में।

बच्चों को समझते देर न लगी कि '36 के आँकड़े' में भी स्थिति बिलकुल यही है। ये दो इन्सान हैं। इनके बीच अनबन है। इनकी आपस में नहीं पटती। ये एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं। मतलब '36 का आँकड़ा'। अगले ही पल दो बच्चियाँ उन कुर्सियों पर जा बैठीं। सब चिल्लाने लगे, "छत्तीस का आँकड़ा, छत्तीस का आँकड़ा।"

अब सबको अपने-अपने किस्से बनाने थे। सबने परिस्थितियाँ गढ़ीं और उन्हें प्रस्तुत किया।

अब बारी थी, 'आ बैल मुझे मार' की। मैंने फिर एक किस्सा सुनाया – एक व्यक्ति चला जा रहा था और एक बैल चुपचाप घास चर रहा था। उसने देखा कि एक अन्य व्यक्ति बैल को परेशान कर रहा है और बार-बार उसके सीगों से खिलवाड़ कर रहा है। पहले वाले व्यक्ति ने उसे मना भी किया कि "अरे, वो बैल है, सींग मार देगा।" पर दूसरा व्यक्ति न माना। वह लगातार छेड़छाड़ करता रहा। आखिरकार, खीझकर बैल ने उसे सींग मार ही दिए। व्यक्ति गिर पड़ा और उसे काफी चोट आई। इस पर पहले व्यक्ति ने कहा, यह तो वही बात हुई कि 'आ बैल मुझे मार'। ज़ख्मी व्यक्ति को उठाते हुए उसने कहा, "तुमने ही बैल को मारने के लिए उकसाया, अब भुगतो।"

"और कुछ इस तरह बना मुहावरा 'आ बैल मुझे मार'।" मैंने कहा, "सभी इस पर एक-एक किस्सा बनाएँ और सुनाएँ।" इसके बाद दो समूह बना

दिए गए और काम यही कि दोनों समूह इस मुहावरे को अलग-अलग तरह से अभिनय द्वारा प्रस्तुत करें।

बच्चों को इस गतिविधि में बहुत मज़ा आया। एक समूह ने तो बैल ही बनकर दिखाया पर दूसरे समूह ने बैल की जगह एक गुस्सैल पहलवान का अभिनय किया। इसके बाद तो 'दिन में तारे नज़र आना', 'हवाई किले बनाना', 'करेला वो भी नीम चढ़ा', 'एक पन्थ दो काज', 'तिल का ताड़ बनाना', 'हाथ पर हाथ धरे बैठना' जैसे मुहावरों में बच्चों ने कमाल की कल्पनाशीलता और रचनात्मकता दिखाई। किस्सा सुनाते ही उन्हें मुहावरे की परिस्थिति समझते देर न लगती और झट-से वे इसके लिए एक उपयुक्त किस्सा रच देते और फिर समूह में अभिनय द्वारा प्रस्तुत भी कर देते।

'हवाई किले बनाना' में शेखचिल्ली का किस्सा उन्हें बहुत मज़ेदार लगा। मैंने खुद बचपन में दादी से यह कहानी सुन रखी थी कि कैसे शेखचिल्ली रास्ते पर चलते हुए, आने वाले समय की कल्पना करता रहता और भूल जाता कि वह क्या काम कर रहा है, या कहाँ किस काम से जा रहा है। ऐसे ही एक रोज़ उसने कुछ सोचते-सोचते सिर पर रखा घी का कनस्तर ज़मीन पर पटक दिया था।

समूह में जब बच्चों ने अपने किस्से गढ़े और अभिनय द्वारा उन्हें प्रस्तुत किया तो वह नज़ारा देखने लायक था। सटीक परिकल्पना, असरदार संवाद और समन्वय का ज़बरदस्त उदाहरण रहीं, उनकी ये प्रस्तुतियाँ।

मुहावरों से दोस्ती

मुहावरों के इन सत्रों के बाद तो 'तिल का ताड़ बनाना', 'एक पन्थ दो काज' और 'हवाई किले बनाना' के प्रयोग बच्चों की बातों में कई रोज़ तक सहज ही सुनाई देते रहे। जब एक छोटी बच्ची को दरवाज़े की मामूली खरोंच लगी और सब ने उसे घेर लिया, मरहम पट्टी का डिब्बा ले आए, किसी ने आकर टीचर को बताया कि बहुत चोट लगी है, तो इस पर बड़ी उम्र समूह के एक बच्चे ने कहा, "ये लोग फालतू में 'तिल का ताड़' बना रहे हैं, कोई चोट-वोट नहीं लगी है।"

जब हम 'करेला वो भी नीम चढ़ा' मुहावरे की बात कर रहे थे तो कुछ परिस्थितियों के उदाहरण के बाद मैं नीम की वजह से करेले की कड़वाहट बढ़ जाने की बात पर आकर रुक गया। मुझे इसके आगे का रास्ता न सूझा सिवाय इसके कि इस तरह की स्थिति में यह मुहावरा सटीक बैठता है। एक बच्ची ने पूछा कि "अगर करेले की बेल अमरूद या गन्ने के पेड़ पर चढ़ जाए तब क्या करेले में मिठास आ जाएगी?" कुछ और बच्चों ने भी मेरी तरफ यही चुनौती उछाली। मेरे लिए यह एक कठिन प्रश्न था

लेकिन मैं यह जानता था कि किसी बात का उत्तर नहीं जानना, कोई कठिनाई की बात नहीं। मैंने कहा, "यह तो करके देखने वाली बात है। हम विज्ञान के शिक्षक से इस बात को समझेंगे और यह प्रयोग भी करके देखेंगे।" दो-तीन दिन बाद बच्चों ने करेले के बीज बोये। सप्ताहभर में कुछ अंकुर भी फूटे लेकिन बेल कुछ खास बढ़ी नहीं। फिर बच्चे इस बात को भूल भी गए और दूसरे कामों में जुट गए।

मुहावरा अब उनके लिए कोई हौवा न था बल्कि उसमें मज़ेदारी थी, रचनात्मकता थी और भाषा का खिलन्दड़पन था। और इस तरह मैं मुहावरे की एक क्लास के रास्ते, आनन्द निकेतन डेमोक्रैटिक स्कूल में हिन्दी भाषा का फैसीलिटेटर बन गया। फिर तो किस्से-कहानियों का दौर और बच्चों से दोस्ती का सिलसिला चलता रहा।

स्कूल के बारे में अगला किस्सा अगली किश्त में।

अनिल सिंह: पिछले 25 वर्षों से सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हैं। विगत डेढ़ दशक से प्राथमिक शिक्षा उनका प्रमुख कार्य रहा है। भोपाल के आनंद निकेतन डेमोक्रैटिक स्कूल की संकल्पना के दिनों से वे जुड़े रहे और उसका संचालन किया। वर्तमान में, टाटा ट्रस्ट के पराग इनिशिएटिव से जुड़कर बाल साहित्य और पुस्तक संवर्धन का काम कर रहे हैं।

सभी फोटो: अनिल सिंह।

आनन्द निकेतन स्कूल में खेलते बच्चे।